

समकालीन कविता में धूमिल का योगदान

डॉ. आर.पी. वर्मा,

असि. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय गोसाईखेड़ा,

जनपद—उन्नाव, उ.प्र.

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य के इतिहास में सन् 1950 के इर्द-गिर्द प्रथम मोड़ आया जब स्वतंत्रता के बाद के सपनों में जी रहे रचनाकारों का मोह भंग हुआ। रचनाकारों ने कविता में मोड़ के इस परिप्रेक्ष्य को 'नयी कविता' से अभिहित किया। नयी कविता नव जीवन के वस्तुनिष्ठ निर्माण के प्रति उत्तरदायित्व को नई चेतना से उद्भूत थी। उसने संवेदना की वस्तुनिष्ठता को अहमियत देते हुए "अनुभूति का प्रामाणिकता" को अपना प्रस्थान बिन्दु स्वीकार किया। प्रगति और प्रयोग को पकाकर करने का भारतीय परिवेश के अनुकूल यह एक महत्वपूर्ण कदम था। किन्तु उसकी अनुभूति की प्रामाणिकता वही नहीं रही, जिसकी घोषणा की गयी थी। उसमें निहित वस्तुनिष्ठता धीरे-धीरे छीजती चली गयी और मूल्यवत्ता के नाम पर व्यक्तिनिष्ठता बढ़ती गयी। फल यह हुआ कि सातवें दशक के मध्य तक पहुंचते-पहुंचते नयी कविता द्वारा रूपायित आशा एवं उल्लास में नाटकीयता अधिक और प्रासांगिकता कम हो गयी। जीवन मूल्यों का उसका रूपायन कल्पित और यथार्थ जीवन बोध से विच्छिन्न होकर अपनी अप्रामाणिकता का इजहार करने लगा। प्रामाणिकता में संभावना के उतने ही अंश को स्वीकारा जा सकता है जितने से यथार्थ अनुभव को रचनात्मक दिशा मिलती है। किन्तु यथार्थ से कटकर संभावना कल्पना का पर्याय बन जाती है। यथार्थ संबंधित न होने के कारण अंतिम दौर की नयी कविता का स्वर अपनी सारी कलावत्ता के बावजूद युगीन संदर्भ में बेसरा लगता है। यह सब

इसलिए हुआ कि तब तक नयी कविता ने अपना पेटर्न बना लिया था। उसके पेटर्न का विरोध अवश्यभावी था। फलस्वरूप किसिम-किसिम की कविताएं प्रकाश में आईं और इन सबको समेटकर साठोत्तरी कविता का नाम दिया गया। "नयी कविता" ने पेटर्न से हटकर अस्तित्व में आईं इन नये तेवर की विविध कविताओं को साठोत्तरी नाम देना प्रासंगिक ही है।

यही वह बिन्दु है जहां दिशाहीन एवं कारगर विरोध दोनों अपना उत्स प्राप्त करते हैं। कहना न होगा कि किसी स्पष्ट पृष्ठभूमि के अभाव में इस काल में कितने ही विरोधी स्वर फूटे और असामयिक मृत्यु के शिकार हुए। वस्तुतः हिन्दी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी यह नया प्रयोग काल था जिसमें विविध लोगों ने विविध प्रकार के प्रयोग किये। अंतः उस स्वर को पुष्ट तथा प्रखर होने का अवसर मिला जो कारगर विरोध की सार्थक अभिव्यक्ति का प्रतीक बन सका। धूमिल इसी स्वर के सशक्त उत्स हैं यह काफी हद तक सही है कि इस काल की नयी मानसिकता से उद्भावित कविताओं का चित्रण सामयिक ही है, स्तरीय एवं गम्भिर नहीं, किन्तु मूल्य मूढता से कुण्ठित मनो से इस प्रकार की अपेक्षा ही बेमानी कही जाएगी। यह युग स्वर्णिम कविताओं के उपयुक्त कदापि नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह है कि युगीन आकुलता ने ही इन कवियों को छोटी पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी सामयिक प्रतिक्रिया को लोगों तक पहुंचाने के लिए विवश किया। इस काल में

अनेक छोटी पत्रिकाओं का अविर्भाव व्यवस्था सम्बद्ध स्थापित बड़ी पत्रिकाओं की ठहराव की नीति के विरोध में चाहे बहुत हद तक कारगर भी न रहा हो, उससे ऐसे बहुत से रचनाकार प्रकाश में आए जिन्होंने अपनी कविताओं को ईमानदारी से जिया। राजकमल चौधरी की अन्य मुद्दों पर चाहे जितनी तीखी आलोचना की जाय, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि वह कहीं अपनी कविता से बाहर हैं। नंगी सच्चाई को नंगी भाषा में भदेस की हद तक ले जाकर बहना कलात्मक सुरुचि का परिचायक नहीं है, लेकिन सुरुचि जब छलावे का पर्याप्त बन जाय तो उसे तोड़ने के लिए ऐसे सामयिक कदम उठाने भी आवश्यक होते हैं। जड़ता को तोड़ने के लिए यह सबसे कारगर तरीका है। इस समसामयिक परिप्रेक्ष्य की नजरअंदाज कर जब समीक्षा की जायगी तो इस भदेस की बाढ़ में भी निरंतर गतिमान उस अंतर्धारा को नहीं पहचाना जा सकता जिसने संवेदना तथा भाषा दोनों ही स्तरों पर अपनी प्रासंगिक अर्थवत्ता को प्रामाणिक बनाए रखने के लिए निरंतर संघर्ष किया और अंततः सफल हुई। साठोत्तरी कविता का कारगर विरोध इसी अंतःसलिला का सशक्त प्रवाह है। इसी स्वीकृति के साथ साठोत्तरी कविता ने पूर्ववर्ती नयी कविता के पैटर्न के विरुद्ध अपना स्वर बुलन्द किया।

सन् 60 तक आते-आते परिस्थितियां कैसी हो गयी थीं, इसे डा. जगदीश गुप्त के ही शब्दों में जानना अधिक मुनासिब होगा—“अपने ही देश के साथ मदांध शासन की गद्दारी, अनुशासन की मक्कार पैतराबाजी, सुविधाभोगी उच्च वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों में व्याप्त मजबूरी-लाचारी, कमरतोड़ महंगाई डूबी निराशा, कालेधन से खिंचकर मिलावटों में फलता-फूलता विषाक्त व्यापार, कर्ज की नींव पर ऊंची उठती आलीशान इमारतें, उनकी कठोर छाया में जानवर की तरह हांफता-खींचता बोना आदमी, पसलियों से निरन्तर टकराते असंतोष से पागल खुद ही अपना घर फूंकती तरुणाई, राजनैतिक स्वतंत्रता

को निरर्थक बनाती अनेकमुखी दासता, शिक्षितों अशिक्षितों की सांस्कृतिक रिक्ता, परम्परा को नया अर्थ देकर अपनाने और सहेज पाने में असमर्थ बुद्धिजीवी वर्ग, छद्म आधुनिकता की आंधी से उन्मूलित कलाकार, स्वार्थ साधन के लिए जाति और धर्म की संकीर्णता को बढ़ावा देने वाली दिखावटी धर्म-निरपेक्षता, सरकारी दफ्तरों में असत्य की खूंटी पर टंगा हुआ आर्य वाक्य “सत्यमेव जयते” कर्तव्य को पैरों से रौंदकर लड़ी जाने वाली अधिकारों को एकांगी लड़ाई, झूठे वायदों से सुवासित चुनाव की चालबाजियां, खोखली नारेबाजी के दलदल में फंसे वोटर की किंकर्तव्यविमूढ़ता, नेताओं की कजट प्रपं. भरी बोझिली अनस्थिर नीतियों के नीचे कुचली जनता का हाहाकार और ऐसी ही न जाने कितनी विषाक्त चीजें समकालीन कवि के संवेदनशील मानस को कौंचती कचोटती हुई उनकी वाणी की तेजस्विता और अस्मिता को ललकारती रहती है।” उद्धरण लम्बा अवश्य हो गया है, किन्तु उस परिवेश का, जिससे साठोत्तरी युवा कवि प्रतिश्रुत था, जैसा संश्लिष्ट चित्र यह प्रस्तुत करता है, जो इतना संवेदनशील है कि इसे ज्यों लेने का लोभ संवरण करना मुशकिल था। उपर्युक्त स्थितियों के साथ ही चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमणों की अनपेक्षित घटनाओं ने तो हमारी शांतिप्रियता के कबूतरों के पर इस कदर झुलसा दिये कि एकबारगी वे धराशायी होकर सिर धुनने लगे। समूचे राष्ट्रीय वातावरण में व्याप्त जड़ता को एक भावनात्मक ज्वार के धक्के से तोड़ने की कोशिश की गई, पर देश के कर्णधारों को जैसे यह मंजर न था। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्दों में कहें तो—“मामूलियत के प्रति गौरव का जो ज्वार उमड़ा था, वह लोट गया। लोक फिर अपने-अपने स्वार्थ से संलग्न हो गये और सरकार तथा समाज के बीच जो मामूलियत का पठार उभरा था—वह पुनः धीरे-धीरे नीचे धसक गया और अफसरों, नेताओं, अंग्रेजों-परस्तों, पूंजीवादियों का अभिजात गौरव मामूलियत के खून से सिंची धरती को

बोने-काटने लगा।" स्पष्ट है कि मामूलियत के प्रति सुविधाभोगी वर्ग में शामिल लोगों के मन में कभी कोई कारगर अथवा सार्थक लगाव नहीं रहा। यदि कभी इस लगाव को उभारा भी गया है तो एक नारे के रूप में ताकि उसके सहयोग का तात्कालिक लाभ उठाया जा सके।

हमारे इतिहास की यह बड़ी विडम्बना रही है कि जब किसी विशिष्ट अवसर पर मामूलियत का ज्वर उभरा है और समूचे राष्ट्र को एक नई दिशा में संगठित करने की स्थिति बनी है, कुछ निहितार्थों वाले लोगों के लिए वह एक खतरे की घण्टी साबित हुई है। वे उसे तोड़ने के लिए अपने उपक्रम में तल्लीन और सफल हुए हैं। यह अस्वीकार करने में लज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिए कि हमारा बुद्धिजीवी का भी मामूलियत के बढ़ते प्रभाव को तोड़ने में कमोबेश सहायक रहा है। चाहे तटस्थ दर्शक के रूप में अथवा "मतलब की इबारत से होकर व्यवस्था के पक्ष में जाकर"। जन जागरण को कारगर सक्रियता से सम्बद्ध करके कुछ निश्चित हासिल करने की प्रक्रिया अखण्डित सहयोग तथा सामंजस्य के भाव से यहां कभी नहीं चली। आखिर इसके क्या कारण हैं? इसके मूल में स्वार्थ साधन की आकांक्षा का प्रधान होना ही प्रमुख कारण रहा है। इसी के चलते बुद्धिजीवियों तथा लेखकों के बीच सैद्धान्तिक मसलों को लेकर बहस-विवाद का दौर कुछ इस प्रकार चलता रहा कि वस्तुनिष्ठ सन्दर्भों की पड़ताल का काम जिस समग्रता में किया जाना चाहिए वह छूटता गया है। कहना न होगा कि वैयक्तिक अस्मिता तथा अस्तित्व चिन्ता ने हमारे पिछले दशकों के लेखन में जितना स्थान प्राप्त किया है, उसकी तुलना में राष्ट्रीय सांस्कृतिक अस्मिता का स्थान नगण्य है। वितर्क से इसे ही आधुनिकता साबित करके उसकी सार्थकता का प्रमाण पत्र कोई देता है, तो बात और है, क्योंकि आधुनिकता के नाम पर कुछ भी असंभव नहीं। लेकिन यह एक सच्चाई है कि, व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के सामंजस्य बिन्दु

पर कविता की अवस्थिति मानकर भी, किताबी दायरे से हटकर यथार्थ सन्दर्भों में उस सम्बन्ध को विश्लेषित तथा आकलित करने का प्रयास वहां इतना खण्डित है कि उसका सिलसिलेवार उल्लेख भी उलझाव भरा है। मार्क्सवाद की राजनीतिक प्रतिबद्धता से संलग्न प्रगतिवादियों और राजनीतिक अप्रतिबद्धता के प्रमाण नव लेखकों की विविध बहसों का अंतहीन सिलसिला इसका प्रत्यक्ष गवाह है। साहित्य की इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है कि इस दौर में रचना की समीक्षा प्रतिक्षुति होने के लिए बाध्य किया गया, और वह भी उस समीक्षा से जो कुछ लोगों के अहं के विस्फोट का पर्याय ही अधिक रही है, जो लेखक इससे बचते रहे लम्बे अरसे तक उनका नोटिस ही नहीं लिया गया। यह एक ऐसी साहित्यिक परिदृष्टि है जिसके रहते मामूलियत का सम्यक आकलन महज एक सपना बनकर रह जाता है और उसकी जगह नारे हवा में तैरने लगते हैं। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों की हिन्दी समीक्षा में प्रत्याक्रमणरहित विश्लेषण का भाव बहुत ही विरल है जो हमारी समीक्षात्मक उपलब्धि की कहानी स्वयं कहता है।

इसी पृष्ठभूमि में साठोत्तरी कविता विकसित हुई, जिसमें मूल्यों की सार्थकता यदि कुछ शेष थी तो वह सैद्धान्तिक धरातल पर ही, वस्तु जीवन से उसका कोई प्रामाणिक सम्बन्ध नहीं रह गया है। स्वाभाविक एवं लाजिमी था कि वस्तु जीवन की चेतना से आकुल नयी मानसिकता द्वारा उसका विरोध होता। उसे लगा कि जड़ीभूत व्यवस्था अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए मूल्यों के इस परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल ढाल के रूप में कर रही है, इसलिए व्यवस्था विरोध को उसने अपना मुद्दा बनाया। यह विरोध मात्र राजनीतिक नहीं, सामाजिक सांस्कृतिक मूल्य चेतना से भी सम्बद्ध हैं। इसमें विरोध की विभिन्न भंगिमाएं सामने आईं अकवितावादियों ने रोमाण्टिकता के विरुद्ध आवेगहीनता को अपनी कविता का आधार

बनाया। उनका दावा था कि वे समसामयिक विसंगति, विरोधाभास, मूल्यहीनता तथा अव्यवस्था से भी आंदोलित नहीं हैं, क्योंकि इसे वे रूमानी प्रवृत्ति का द्योतक मानते हैं। और रूमानियत को वे जीवन से काटकर फेंक देने के पक्षधर हैं। स्थिति का जायजा वे तटस्थ दर्शक के रूप में लेते हैं तथा जो कुछ अनुभूत होता है उसका संवेगहीन चित्र प्रस्तुत करते हैं। दावा तो दमदार था, यदि जीभ और जांच के भूगोल के अतिरिक्त अन्य विकृतियों को भी उन्होंने अपने तटस्थ दर्शन की परिसीमा में रखा होता। किन्तु विडम्बना से मुक्त होने की प्रक्रिया में अकवितावादी अपनी संकुचित दृष्टि संपृक्ता में परिणत होकर रही गयी और पाठकों को एक नई रोमानी अनुभूति उनके काव्य में हुई विरोध का जो परिप्रेक्ष्य उन्होंने चुना उसके खतरे से सतर्क न रहने के कारण वे सम्यक रूप से उसका निर्वाह न करे सके। लेकिन यह एक शुरुआत थी। जीभी और जांच के दायरे में उलझे रहकर भी राजकमल चौधरी ने अपनी कविता में जिस नरक को प्रस्तुत किया है, वह हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था पर एक करारा आघात भी है। दरअसल मूल्यहीनता के माहौल में यह प्रयास उन सारे अवरोधों, निषेधों का विरोध था, जिनके कारण साहित्य भी बंधे हुए जल स्रोत की तरह स्थिर तथा अवरुद्ध होकर, बजबजा रही विकृतियों की सड़ांध को बाहर नहीं निकाल पा रहा था। लेकिन यह शुरुआत एक आन्दोलन के रूप में हुई जिसके साथ मसीहाई भावना भी प्रचुर मात्रा में थी। फलस्वरूप इसकी देखा-देखी और भी आन्दोलन चले तथा उनके एक बाढ़ सी आ गई केवल हिन्दी में ही ऐसा हुआ हो सो भी नहीं है, बंगला, मराठी, कन्नड़ आदि में भी इसी तरह की शुरुआत आंदोलनात्मक तेवर के साथ हुई।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, यह एक नया प्रयोगकाल था। विभिन्न पहलुओं, धारणाओं तथा प्रवृत्तियों को लेकर नए-नए रचनाकार अपने ढंग से आजमाइश कर रहे थे

और समसामयिक परिप्रेक्ष्य में उनके मन में कहीं न कहीं यह धारणा भी बद्धमूल थी कि उन्हीं का दृष्टिकोण सर्वाधिक वरेण्य है। इस काल में नयी नयी अनेक अनियतकालीन पत्रिकाओं के परिनिष्ठित दृष्टिकोण को तोड़ने की दिशा में इसे स्तुत्य प्रयास कहा जाना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से वे नये रचनाकार प्रकाश में आये जिनके स्तर आज के हिन्दी साहित्य में प्रमुख बन चुके हैं। धूमिल भी इन्हीं में से एक हैं। हिन्दी के रचनात्मक इतिहास में यह सर्वाधिक स्पष्टात्मक काल था, जिसके कारण उठा पटक तथा दल परिवर्तन का दृश्य भी देखा जा सकता है। ऐसे काल में जब बुद्धिजीवी वर्ग की नयी मानसिकता को मूल्यहीनता का अनुभव हो, किसी स्थिर दृष्टिकोण अथवा प्रतिमान की अपेक्षा करना भी बेमानी है। वहां तो केवल व्यंग्य, विद्रूप, विडम्बना तथा वक्तव्य आदि के पनपने की ही संभावना रहती है। सर्वविदित है कि साठोत्तरी कविता ने व्यंग्य और विडम्बना के क्षेत्र में एक कीर्तिमान ही स्थापित किया है। हिन्दी के सभी व्यंग्य लेखक और कवि साठोत्तरी युग की ही देन अथवा इसी काल में वे अपने व्यंग्यास्त्र को धारदार तथा प्रभावशाली बनाने में सफल हुए।

लेकिन इस युग के नए स्वरों के साथ खेमापरस्ती का एक ऐसा अटूट आयाम जुड़ा हुआ है जिसके कारण ये अपनी सीमाओं का विस्तार नहीं कर सके। इसका लाभ उठाकर बहुत से नकलवी और फैशनपरस्त भी रातोंरात ख्यातिनाम होने के प्रयास में काव्यान्दोलन का झण्डा लेकर निकल आए। दरअसल युगीन सन्दर्भ में घुट रहे बुद्धिजीवी के लिए विरोध का आकर्षण इतना प्रबल था कि उसके सर्जनात्मक पक्ष पर बहुतों का ध्यान उतना नहीं गया जितना केवल प्रतिक्रियात्मक पक्ष पर। जैसे वे एक हड़बड़ी हों और शीघ्र ही किसी मंजिल तक पहुंच जाना चाहते हों। उससे जी उबर सके हैं, उनकी रचनाओं में वह गहराई है, जो हमें डुबोती है और

एक नयी संवेदना से अभिभूत करती हैं। यही कारण है कि इस काल की अधिकांश रचनाएं सर्जना के उस आयाम को नहीं छू पाती जो व्यापक संवेदनीयता के लिए रचना का आवश्यक अंग है। दूसरे शब्दों में इसे ही सामयिकता का सार्वभौमिक संप्रेषण की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। अगर रचनाकारों ने इस ओर भी ध्यान दिया होता तो उनके विरोध में एक तलखी होती और वह केवल प्रचारात्मक नारा बनकर ही न बुझ गया होता।

प्रश्न उठता है कि आखिर विरोध का मुद्दा समीचीन होने पर भी सर्जनात्मक दृष्टि से वे स्वर क्यों कमजोर साबित हुए? रचना को मात्र स्वर से नहीं संदर्भ से समीचीन बनाया जाता है। स्वर की ललकार तो केवल कुछ क्षण तक झकझोर कर बुझ जाती है। जब स्वर को अपेक्षित सन्दर्भों के साथ जोड़कर रूपायित कर दिया जाता है तो वह एक विश्वसनीय संभावना का सृजन करने वाली मानसिकता का अंग बनकर स्थायी प्रभाव डालता है। इस काल के अधिकांश रचनाकार अपनी वैयक्तिक आकांक्षा से ऊबकर अपनी संवेदना की संपत्ति उन परिस्थितियों से नहीं बैठा सके जिसके कारण उनका सारा दर्द एक व्यापक संवेदना का हिस्सा बन पाता। अतएव उनकी बौखलाहटें और चीखें कुछ देर तक हवा में गूँजकर गुम हो गईं।

इसे इन्कार कर पाना कठिन है कि संक्रान्ति के युग में विरोध का नजरिया सर्वथा प्रासंगिक था किन्तु विरोध के लिए विरोध कोई माने नहीं रखता। असल मुद्दा होता है नजरिए को सक्रियता और रचनात्मकता देकर उसे कारगर बनाना। इसके लिए विरोधी संचेतना को परिवेश की विश्वनीय सक्रियता से जोड़ना जरूरी था और यह काम आसान नहीं जोखिम भरा था। इसके लिए वैयक्तिक अनुभव एवं संचित ज्ञान को अभिन्न रखकर कुछ करने की कष्ट साध्य प्रक्रिया से गुजरना था, जिसके लिए समय की दरकार थी

और समय उन रचनाकारों के पास नहीं था जो दौड़ में पीछे नहीं रहना चाहते थे। अतएव यह आकस्मिक नहीं कि इन रचनाकारों का बोध कुछ अद्वितीय होते हुए भी हमें दूर तक अपने साथ नहीं ले चल पाता। उदाहरणार्थ नगरबोध से जुड़े अधिकांश लेखकों का बोध अजनबीपर, अमानवीकरण, संत्रास, कुण्ठा, आदि की किताबी परिणितियों पर जितना आधारित है, नगर जीवन की यथार्थ स्थितियों में जाकर उन्हें रूपायित करने की चिन्ता का उसमें उतना ही अभाव है। साहित्यिक में विचार को भी संवेदनात्मक बनाना पड़ता है। और इस संवेदनीयता के लिए आवश्यक है कि स्वयं रचनाकार भी किन्हीं संदर्भों में उससे संवेदिनत हो। यह सच्चाई है कि भारतीय नगर बोध में उन प्रवृत्तियों का, जो पश्चिम में अपना भयावह रूप ले चुकी है, वही रूप नहीं है, किन्तु नितान्त अभाव है, यह भी नहीं कहा जा सकता। भय और भीड़ की समस्या यहां भी है, लेकिन इनसे सम्बद्ध कविताओं में बौद्धिकता अधिक संवेदना कम है। कारण नागरीय जीवन की घुटन और पीड़ा भोग रहे मध्यवर्गीय रचनाकार अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करने में जितनी तत्परता दिखाते हैं, उससे अधिक तत्पर वे अपनी पहचान बनाने में दिखाई पड़ते हैं। पश्चिमी आधुनिकता से जुड़ी विविध प्रवृत्तियों का रूपायन इस दिशा में विशेष आकर्षक रहा है। फलस्वरूप बहुत सारी घटिया किस्म की कविताएं इस दौर में लिखी गयीं। गिरिजा कुमार माथुर के इस कथन से असहमत होने का कोई कारण नहीं कि जिन्हें सिर्फ पाठक ही रहना चाहिए था या जो साहित्यिक रुचि वाले मात्र पाठक थे, वे भी सबके सब लेखकों में आकर शामिल हो गये हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि हर नये दौरान में अवसरवादी मुखौटेबाज स्थिति का तात्कालिक लाभ लेने की कोशिश करते हैं, चाहे वह जीवन के किसी क्षेत्र में हो। किन्तु इन्हीं को मद्देनजर रखकर उस नये दौर की उपलब्धियों को नहीं नकारा जा सकता।

जैसा माथुर साहब ने स्वीकार किया है और यह वस्तु सत्य भी है कि साठोत्तरी नये कवि ने तात्कालिक परिवेश की खोखली स्थितियों की प्रतिक्रिया पर तो अधिक ध्यान दिया, रचनात्मक, मूल्यवत्ता को एक तरह से भुला ही दिया। जबकि रचनात्मकता के लिहाज से किसी भी स्वर अन्यथा दृष्टि से आन्तरिक मूल्यवत्ता का होना जरूरी है। फलस्वरूप इस युग की कविताओं में अद्वितीयता का वह स्वरूप जो आन्तरिक लगाव से उत्प्रेरित होता ळ, सर्वथा तिरस्कृत हो गया है और एक प्रकार से ये कविताएं समूहगान हो गई हैं। सामूहिकता का यह स्वर कितना ही प्रचण्ड और प्रासंगिक क्यों न हो, रचनात्मकता के लिए सुखद नहीं कहा जा सकता। सामूहिकता के प्रयोगात्मक आन्दोलनात्मकता के अधिक्य के कारण वहां वैयक्तिक आन्तरिक लगाव के लिए अवकाश नहीं होता। वैयक्तिक लगाव के लिए गहरी आन्तरिक अनुभूति अथवा वाह्य का आभ्यान्तरीकरण अपेक्षित है, तभी उससे उत्सर्जित कोई प्रतिक्रिया जीवन्त उष्मा से संचलित होगी और उसका रूपायन संचेतन एवं मूल्यवान होगा।

समकालीनता के प्रति अतिरिक्त रूप से सचेत साठोत्तरी रचनाओं में रचनात्मकता की कमजोरी का पाया जाना कतई अप्रत्याशित नहीं यह हम पहले ही स्वीकार कर चुके हैं। फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि रचनात्मक मूल्यवत्ता का यहां नितान्त अभाव है। इस दौर में ऐसे भी रचनाकार स्वरूप ही उद्भूत थे, रचनात्मक धरातल पर एक नयी अर्थवत्ता देने की कोशिश की है। धूमिल, आलोकधन्वा, मणिमधुकर, लीलाधर जगूड़ी, श्रीरमा वर्मा, विनोद शुक्ला आदि ऐसे ही विशिष्ट हस्ताक्षर हैं।

धूमिल को विशिष्टता यह है कि तीखी से तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए भी अपने अनुभवों की जमीन से हटकर वह केवल अमूर्त वैचारिक उद्घोष का सहारा नहीं लेता। साठोत्तरी कविता में नगर बोध की कविताओं की संख्या तो

प्रभूत हैं, जिसके लिए अस्तित्ववादी दर्शन की पृष्ठभूमि भी काफी हद तक सहायक रही, लेकिन ग्राम-बोध की ओर झुकाव कम हो रहा। वह भी तब जबकि अधिकांश रचनाकार किसी-न-किसी स्तर पर गांव से जुड़े हुए थे। यदि किसी ने कुछ कोशिश भी हो तो वह नयी कविता के जमाने से आगे बढ़कर कोई नयी जमीन नहीं तोड़ सका। यानी उसका ग्राम-बोध किशोर भावनात्मकता अथवा सरलीकरण से आगे नहीं बढ़ पाया। गांव नगर बोध की अब और घुटन से बाण पाने की विश्रमा-स्थली के रूप में ही अधिक प्रयुक्त हुआ। इसका कारण भी बहुत साफ है। गांव में किशोरावस्था बितने वाले कवियों के मन में जो स्मृतियां थीं, वे वहां के समकालीन संघर्षों से जुड़ी न होकर, भावनात्मक लगाव की थीं। संघर्ष का साक्षात्कार तो उन्हें नगरीय जीवन में हुआ। अतः आकस्मिक नहीं कि ग्राम बोध के अधिकांश बिम्ब या तो सुन्दर लैण्ड स्कैप है या ग्रामीण भोले जीवन की झाकियां। ग्राम्य जीवन के अन्तर्विरोधी भी वहां मिलते हैं, लेकिन उनके विश्लेषण संश्लेषण के प्रति गहरा आन्तरिक लगाव उतना नहीं है, जिससे ग्राम बोध के अन्तर्संघर्ष को सहेजा जा सका। शहर से ऊबकर गांव में बाण पाने की आकांक्षा के साथ गांव पर नई दृष्टि डालना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। धूमिल इस स्तर से हटकर गांव के संघर्षों में गहराई से पैठता है और अपने अनुभव को वाणी देता है। मुझे लगता है धूमिल में "देहात" और "शहर" दोनों बड़े अजीब ढंग से काफी गहराई तक मौजूद थे।

"देहात" से तात्पर्य है उनकी गांव घर की समस्याएं, मुकदमा, पारिवारिक एवं पटिदारी के झंझट, ग्रामीण संस्कार, पिछड़े वर्गों को मानसिकता आदि, जिन्हें धूमिल ने देखा ही नहीं, वरन इसी दुनिया में पले और बढ़े। "मास्टर" (अपने गांव में शायद वे इसी नाम से जाने जाते थे) के रूप में वे गांव के झगड़ों में बीच-बचाव करते थे। पंचायत के कार्यों में भी भाग लेते थे। बहुत से मारपीट का निपटारा भी करते थे। इन

सब बातों से उन्हें वहाँ के लोगों का प्यार भी प्राप्त था, खासतौर से निचले तबके में प्रतिष्ठा भी थी। इसी देहातीपन का सटीक प्रयोग वे शहर के मेल-मिलापों, गोष्ठियों तथा सभाओं में भी करते थे। उग्र व्यवहार, गाली गलौज से भी परहेज न करना विरोध पर तमतमा जाना, अपना खासा आक्रोशपूर्ण रूप लोगों पर स्थापित करते थे।

“शहर” से तात्पर्य है धूमिल का घोर व्यवहारिक होना जो उनमें किन्हीं मानों में निर्ममता की हद तक था। उन्हें यह खूब मालूम था कि किस व्यक्ति का किस हेतु कितना इस्तेमाल करना है। उनमें अत्यधिक व्यवहारकुशलता, संगठन शक्ति तथा स्थितियों के प्रति सजगता थी। किन्तु शहर और गांव के जीवनगत अन्तर्विरोधी के मर्म को उन्होंने बहुत हद तक स्वयं झेला और बहुत हद तक ये विरोधाभास उनकी मानसिकता के अंग बन चुके थे जिनकी अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में पर्याप्त है। उनका अहसास शहर को गांव की ओर झुकाने की कारगर कोशिश में है। इस अहसास का जन्म अचानक ही नहीं हुआ। इसके पीछे धूमिल का व्यक्तिगत अनुभव ग्राम जीवन के गहरे लगाव से फकीकृत होकर अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिए उनकी कविता वैयक्तिक अनुभवों की ऊष्मा से अनुप्राणित ग्राम्य जीवन का जीवन्त और प्रामाणिक स्वर बन सकी है। निरन्तर उबाऊ अनुभवों से गुजरते हुए उन्होंने रचनात्मक ऊर्जा और दृष्टि प्राप्त की और लिखा—

“कि कविता

वैराव में

किसी बौखलाये हुए आदमी का

संक्षिप्त एकालाप है।”

कविता के सम्बन्ध में धूमिल को यह उक्ति जहाँ समकालीन परिवेश और व्यक्ति के सम्बन्ध को परिभाषित करती है कवि के गहरे दायित्वबोध को जो रेखांकित करती है। समकालीन दायित्व बोध

ने ही कविता को विरोध में खड़ा करने की अपरिहार्यता का बोध उन्हें कराया, जो उनकी एक बड़ी उपलब्धि है। इसी के बल पर वे कविता को विरोध में खड़ा करने के अनवरत संघर्ष को झेल सके।

यह सर्वविदित है कि अपने आरम्भिक कवि जीवन में धूमिल ने अपनी भावना की अभिव्यक्ति करने के लिए गीत को माध्यम बनाया, लेकिन वस्तुस्थिति से परिचित होते ही उन्होंने शीघ्र ही इससे मुक्ति पा ली। वैसे “नवगीत” का सहारा लेकर वे इस दिशा में भी आगे बढ़ सकते थे। निश्चित ही अपने भीतर की कशमकश को अभिव्यक्ति देने के लिए गीत की भावनात्मक कोमलता को वे किसी न किसी स्तर पर असमर्थ पाते रहे होंगे। अभिव्यक्ति के उचित मुहावरे को तलाश में ही गीत से मुक्ति पाकर उन्होंने “सनातनी सूर्योदयी” कविता से अपना सम्बन्ध जोड़ा होगा, जो उसकी तलाश का प्रथम बिन्दु है। उसकी घोषणाओं में अपना स्वर मिलाने के बावजूद धूमिल को उसके नाम में अवश्य कुछ बंधन जैसा अहसास हुआ था, तभी उन्होंने “भारती” के 1965 के फरवरी अंक में “नूतन कविता” की बात उठाई लेकिन नामों के दायरे में कविता को कैदकर अभिनव घोषणाओं का यह आन्दोलनात्मक सिलसिला बहुत लम्बा नहीं खिंचा। समकालीन काव्य परिदृश्य के विभिन्न आवृत्तों की चीड़-फाड़ में संलग्न धूमिल की मानसिकता का वस्तुतः यह अस्थायी परिप्रेक्ष्य था। एक बार समूचे काव्य परिदृश्य तथा वस्तु स्थिति को दृष्टिगत कर लेने के बाद उसके कवि की संरचनात्मक ऊर्जा का वास्तविक विस्फोट हुआ और तब उसने अपनी सारी शक्ति कविता की विरोधी भूमिका को कारगर बनाने में लगा दो।

समकालीन कविता में पनप रही विरोध की ललकार मुद्रा की विसंगति को पहचानना और अमूर्तन को बोझिल दार्शनिकता से बचना उनके विरोधी प्रयास को महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उनकी

कविता में युयुत्सा की चेतना हर कहीं देखी जा सकती है। लेकिन युयुत्सावाद के घेरे में वे कहीं नहीं बंधते। यह इसलिए की वादीय संकीर्णता को उनकी रचनात्मक चेतना एक बंधन के रूप में महसूस करती रही। क्रांति के नाम पर उछाली जाने वाली तीखे उक्तियों में भी उनका विश्वास नहीं था क्योंकि वे कुछ लोगों की साहित्यिक राजनीति का सरलीकृत रूपायन भर बनकर रह गई थीं। आम आदमी को हालात को देखते हुए, वे राजनीतिक सम्बद्धता के बावजूद ऐसे प्रयासों से दूर रहे जिनके कारण क्रान्ति उनको—

“यहां के अपंग लोगों के लिए

किसी अबोध बच्चे के—

हाथों की जूजी।”

दिखाई पड़ी थी। अपनी इसी धारणा के कारण उन्हें अन्तविरोध ग्रस्ता का आक्षेप भी सहना पड़ा, लेकिन किसी अधूरे नजरिये की परिणति के प्रति समर्पण की अपेक्षा उन्हें वह अन्तविरोध ग्रस्ता प्रिय थी, जो उनकी रचनात्मकता को प्रासंगिक प्रामाणिकता देती थी।

धूमिल की चिन्ता कविता को उस विरोधी भूमिका में सशक्त और सार्थक बनाने की थी जो युगीन सन्दर्भ में आवश्यक कार्यवाही थी। इसके लिए आम आदमी का नारा मात्र काफी नहीं था। आवश्यक था उसको उसके हालात से संवेदित करना और सक्रिय बनाना। यह समकालीन स्थितियों में गहरे उत्तरदायित्व बोध का उत्स था, अन्यथा वह भी गम को गर्त करने के लिए बड़ी आसानी से जीभ और जांघ के चटखारे ले सकता था। उसकी मूल्य चेतना समकालीन यथार्थ के विसंगत परिप्रेक्ष्य से जुड़ी हुई थी। इसलिए मूल्यों की बौद्धिक कल्पना से उनके कविता को परितोष नहीं मिल सकता था। मूल्यों का सार्वकालिक महत्व अक्षुण्ण होते हुए भी उनकी समकालीन विसंगति उसे उनकी सार्वभौमता के गीत गाने से बरज रही थी। कहीं न कहीं उनको लगता था

कि स्थितियों को बदले बिना मूल्य साधना लेखनीय अनुत्तरदायित्व की द्योतक है। जब उन्होंने लिखा—

“मैंने पहली बार महसूस किया है

कि नंगापन

अंधा होने के खिलाफ

एक सख्त कार्यवाही है।”

तो वे मूल्य चेतन को उसके पूरे सन्दर्भ में देख रहे थे। लोगों के “जीवन” को दूर करने के लिए ही वे “नंगापन” को वकालत कर रहे थे। यह “नंगापन” आम आदमी की नग्न स्थितियों को कविता में रूपायित कर उसके सौन्दर्य बोध को शॉक देने की प्रवृत्ति का द्योतक है, न कि भेदसन्नाहता का। इसमें हालात को लेकर उनकी बेचैनी भी ध्वनित होती है। समकालीन कविता पर उनकी टिप्पणी—

“कि वह लड़की

तीसरे गर्भपात के बाद

धर्मशाला हो जाती है और कविता

हर तीसरे पाठ के बाद।”

उनकी उत्तरदायी बेचैनी को संवेदित करती है। अपने तीखे कचोटते अनुभव को वाणी देने के लिए ही उन्होंने कविता में एक ऐसी भाषा की तलाश की जो सच्चाई को उसकी पूरी नग्नता में रूपायित कर हालात को बदलने की सक्रिय संवेदना से जोड़ सके। धूमिल की कविता में व्यंग्य एवं वक्तव्य की चरितार्थता यही है कि उनके माध्यम से कथ्य को धारदार और उसे कारगर बनाने में सहायता मिली है। उनकी बिम्ब योजना कविता की सपाटबयानी के बीच बिम्बों को इस तरह बुनती है कि वे उसके अनुभव को मूर्त करते हुए उनकी कवि भूमिका को भी सार्थक रूप से अभिव्यक्त करते हैं। उनके बिम्ब हालात के संदर्भ में उपजी उनकी गहरी पीड़ा को

संश्लिष्ट रूप से उजागर करते हैं। बिम्बों की इस बुनावट में निस्संदंह वे साठोत्तरी कविता में अकेले हैं। "मोचीराम" को इसके उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है।

साहित्य की समकालीन समझ के लिए धूमिल राजनीतिक चेतना को आवश्यक मानते हैं। स्वातंत्र्योत्तर प्रजातंत्रीय राजनीति को उन्होंने "संसद से सड़क तक" बड़ी गइराई से समझने की चेष्टा की और पाया कि देश के विसंगत हालात में उनकी अहम भूमिका है। अतएव उससे निरपेक्ष होकर लिखना उनकी नजर में दायित्वहीनता का परिचायक था। यद्यपि साहित्यकार से यह अपेक्षा करना कि वह हालात को बदलने में सक्रिय सहयोग दे, सैद्धान्तिक रूप से उसकी महत्तर रचनात्मक भूमिका को छोटा करना कहा जायेगा, लेकिन वह वस्तुस्थिति से तटस्थ रहे, यह भी धारणा उचित नहीं क्योंकि यह उसे खोखला बनाकर निष्क्रिय करने की एक चाल बन जाती है। समकालीन स्थितियों में तटस्थता का हथियार क्या होता है, इसे कविता की भूमिका ने बखूबी प्रमाणित कर दिया है। तटस्थता उसी हालत में सार्वकालिक साहित्य की मूल्यवत्ता से मण्डित सृजन में सहायक हो सकती है, जब इतर सम्बन्ध हों और उसमें सहायक भी। लेकिन विसंगत परिस्थितियों में तटस्थता की बात बेमानी और बेसुरी है।

धूमिल की राजनीतिक समझ का सक्रिय रूपायन इसी परिप्रेक्ष्य में एक प्रासंगिक कार्यवाही का पर्याय बनता है। उनकी कविता में प्रजातंत्र पर जितने तीखे व्यंग्य हैं, वे प्रजातंत्रीय व्यवस्था के दावेदारों की कथनी और करनी की विसंगति को बलौस उभरते हैं—

"यहां

ऐसा जनतंत्र है जिसमें

घोड़े और घास को

एक जैसी छूट है

कैसी विडम्बना है

कैसा झूठ है

दरअसल अपने यहां

जनतंत्र

एक ऐसा तमाशा है

जिसकी जान

मदारी की भाषा है।"

लेकिन धूमिल प्रजातंत्र के विरोधी कतई नहीं हैं। उनका विरोध तो उनसे जुड़े उन सन्दर्भों से है जिन्होंने मानवीय चेतना की इस महत्तम उपलब्धि को विखंडित कर दिया है। इतनी गहरी राजनीतिक समझ के बावजूद उन्हें राजनीतिक कवि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रचलित अर्थों में उन्होंने अपनी कोई राजनीति चलाने का दावा नहीं किया है। वे एक प्रजातंत्रीय नागरिक के रूप में राजनीति को उत्तरदायित्व के साथ गहराई से समझने की चेष्टा की और आम आदमी के सन्दर्भ में उसकी विसंगतियों का पर्दाफाश किया। राजनीतिक समझ का यह सार्थक उपयोग समकालीन घुटन तथा बहरेपन को तोड़ने के लिए कितना आवश्यक था और है, इस पर टिप्पणी करना व्यर्थ है। धूमिल की ये पंक्तियां स्वतः इसका खुलासा करने के लिए काफी हैं—

"तुम चुप रहोगे और लज्जा के

उस निरर्थ गूंगेपन से सहोगे—

यह जानकर कि तुम्हारी मातृभाषा

उस महरी की तरह है, जो

महाजन के साथ रात भर

सोने के लिए

एक साड़ी पर राजी है।"

धूमिल की गहरी उत्तरदायित्व-चेतना का ही परिणाम था कि वे औरत को लेकर चल रही सकमालीन चटखारी रूढ़ि से मुक्त रह सके।

उनकी कविता औरत को लेकर उसकी शारीरिक बुभुक्षा को कुंठा के तुष्टिकरण की अपेक्षा औरत के समकालीन चरित्र की गहराईयों में जाकर कुछ टटोलने का प्रयास करती है, ताकि उसके जिस्मानी सन्दर्भ से जुड़ी रूमानी भावना को झकझोरा जा सके। सामान्यीकृत फिकरेबाजी तथा ओढ़ी हुई दार्शनिकता से भी वे मुक्त हैं क्योंकि इन्हें वे "पेशेवर भाषा के तस्कर संकेतों" के रूप में भलीभांति पहचानते हैं। "औरत की बगल में लेटकर" भी धूमिल अपने कायर दिमाग को कायम रखना चाहते हैं ताकि सामयिक जिस्मानी आंधी के अनेकों से अपने को बचा सकें और साथ ही उसके विरुद्ध कारगर ढंग से खड़े हो सकें। रचनाकार धरातल पर यह आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया है, लेकिन बिना किसी छद्म और छलावे के—नंगी और बेलोस। इस प्रक्रिया से गुजरकर ही उनमें वह आत्मविश्वास सजग हुआ कि उन्होंने काव्य क्षेत्र में उन अछूते विषयों और तत्त्वों को शामिल किया जिनके समकालीन या तो बचते रहे या दार्शनिकता की ओट में उन्हें छिपाने का उपक्रम करते रहे। राजकमल चौधरी जैसे कवि को अपनी कविता का गवाह बनाना और वह कहना कि—

**"जीभ और जांघ के चालू भूगोल से
अलग हटकर उसकी कविता
एक ऐसी भाषा है जिसमें कहीं भी
"लेकिन", "शायद", "अगर", नहीं है
उसके लिए हम इत्मीनान से कह सकते हैं कि
वह
एक ऐसा आदमी था जिसका मरना
कविता से बाहर नहीं है।"**

उनके आत्मविश्वास की उस परत को उद्घाटित करते हैं जिसके कारण वे समकालीन जीवन और कविता के बीच एक अटूट रिश्ता बनाने में कामयाब हो सके। असहमत होने पर भी

राजकमल की विशिष्टता को स्वीकार करते हुए उसकी ईमानदारी का कायल होना, धूमिल के ही वश की बात थी।

धूमिल में विसंगत स्थितियों के विरोध की भूमिका के कारण रचनात्मक उत्तेजना बहुत थी, किन्तु उसी अनुपात में उनकी समझ भी गहरी और पैनी थी, जिससे वे आवेगों के तीव्र बहाव पर आवश्यक नियंत्रण रखकर चुस्त कविताएं बुनने में सफल हो सके। समकालीन परिवेश में उपजे अपने आक्रोश को धूमिल ने "मोचीराम" जैसे सशक्त एवं ठोस चरित्र के माध्यम से रूपायित किया। "मोचीराम" का मोची अपनी व्यथा और दंश नहीं दरशाता। वह शोषित अपमानित श्रेणी की ओर से उच्चवर्ग को, उसी के आईने में मुंह दिखाता है। धूमिल ने "मोचीराम" के रूप में हिन्दी कविता की एक मजबूत चरित्र दिया। मुक्तिबोध को इस शिकायत को, कि नयी कविता में विचारों को अमूर्तन श्रंखला तो लम्बी है किन्तु ठोस चरित्रों के जो हमारे वास्तविक जीवन से लिए गये हों, का अभाव है, किसी हद तक दूर करने में भी धूमिल उक्त कविता के रूप में कामयाब हुए। यह सब मात्र इसीलिए संभव हो सका कि उन्होंने अपने को अपने उन अनुभवों से ईमानदारी के साथ सम्बन्ध रखा जो उन्हें उनके ग्रामीण परिवेश में उपलब्ध हुए थे और जिनके मायम से उन्होंने आम आदमी की जीवनगत विसंगति का साक्षात्कार किया था। धूमिल को रचनात्मक मनीषा ने अच्छी तरह उन्हें अवगत करा दिया था ऐसे अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें विषपायी बनकर जीना पड़ेगा और कविता को उसकी कारगर विरोधी भूमिका में स्थापित करना पड़ेगा।

साठोत्तरी काव्य परिदृश्य में धूमिल का उभार विरोध भी उत्तरदायित्वपूर्ण समझ का सशक्त रचनात्मक विस्फोट है। कहीं भी उनकी कविता केवल संवेगों से परिचालित नहीं है, हर जगह उसमें समकालीन समझ का इस्तेमाल इस

ढंग से हुआ है कि वह सार्थक कार्यवाही का पर्याय बन सके। उनकी कविता की समकालीन समझ की ईमानदार एवं उत्तरदायी अभिव्यक्ति मानकर देखने से ही उनके स्वर की मूल्यवत्ता को परखा जा सकता है, वरना उसमें फिकरेबाजी तथा नाटकीयता से परे कोई विशिष्टता नजर नहीं आएगी। काफका के शब्दों में कहें तो— “जह हम लोग राजनीतिक या आर्थिक मामलों में गलत राह पर चलने लगते हैं तो उसका (कवि का) गाना कविता हमें बचा लेता है। गाना अगर बुराई को दूर नहीं खदेड़ पाता, तो कम से कम उससे मुकाबला करने को शक्ति तो देता ही है” धूमिल की शक्ति का स्रोत भी इसी उद्देश्य में निहित था। उनकी कविता निश्चित ही हमें समकालीन भयावह और जटिल स्थितियों के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति से संवेदित करती है। सामयिक उत्तरदायित्व को प्राथमिकता देती थी। नंगे हालातों को देखकर उन्हें मूल्यों की आड़ में अभिव्यक्त करना, सार्वभौम तथा सार्वकालिक बनने की अपेक्षा अधिक प्रासंगिक हैं धूमिल की समीक्षक मानसिकता इस सच्चाई को झुठला नहीं सकती थी। अतएव उनकी अपनी पीड़ा में आम आदमी की पीड़ा को उसकी परिवेशगत सच्चाई के साथ सार्थक अभिव्यक्ति मिली है। उनकी कविता न आत्म पीड़न अथवा आत्मरोदन है, न ही सैद्धान्तिक ढांचे में बुना हुआ क्रांति दर्शन। उसमें हालात को सही परिप्रेक्ष्य में देखने तथा उसका सद्भाव साक्षात्कार कराने की एक सक्रिय अन्तर्दृष्टि निश्चित रूप से है। यह दृष्टि ही धूमिल की पहचान को कायम रखते हुए उन्हें साठोत्तरी कविता के दिशा निर्देशक के रूप में स्थापित करती है।

साठोत्तरी भूखी युवा पीढ़ी जब अपनी नाराजगी के इजहार में विविध भंगिमाएं प्रदर्शित कर रही थी, धूमिल उनकी रचनात्मक अवधारणाओं की गहराई से परीक्षा कर रहा था। गिंसबर्ग, जो विश्व की नाराज युवा मानसिकता का प्रतीक बन चुका है, से उसके वाराणसी प्रवास

के दरम्यान उनका गहरा संपर्क था। लेकिन धूमिल अपने परिवेश की स्थितियों से भी अच्छी तरह वाकिफ थे। वे फैशन के तौर पर कुछ नया करने की अपेक्षा युग मानसिकता की ठोस कार्यवाही से बांधना चाहते थे, ताकि उत्तरवर्ती कविता ठोस जमीन पर खड़ी होकर उन सारे पैटर्नों का विरोध कर सके जो रचना तथा जीवन दोनों को गलत रास्ते पर धकेल रहे थे। धूमिल की कविता का यथार्थ इतना प्रामाणिक है कि उन्हें मुक्तिबोध की परम्परा का कवि कहना सार्थक लगता है। मुक्तिबोध की परम्परा का कवि कहना सार्थक लगता है। मुक्तिबोध के अनुभवों की दुनिया ज्यादा व्यापक, बहुस्तरीय और जटिल है पर जिन्दगी पर धूमिल की पकड़ उतनी ही खरी, सच्ची और विश्वसनीय है जितनी मुक्तिबोध की। धूमिल की सीमा को रेखांकित करना मुश्किल नहीं है, पर उसकी शक्ति को नकारना आगे की कविता को गलत राह पर डालने जैसा प्रयास होगा। उनकी सम्पूर्ण शक्ति उनकी समकालीन समझ में है जो निस्संदेह एक ईमानदार प्रयास की सार्थक उपलब्धि रही है। उनका संप्रेष्य भोंथरा और कुंठित कहीं नहीं है क्योंकि उन्होंने कोई मुगालता नहीं पाला था। राजकमल चौधरी की तरह वे भी अपनी कविता से बाहर नहीं हैं। ऊंचाईयों को लेकर चाहे जितनी तीखी आलोचना की जाय, समकालीन कविता को सही परिप्रेक्ष्य देने की उनकी नेकनीयती पर कुछ इतर कहना अनुचित होगा।

दरअसल साठोत्तरी हिन्दी कविता तेजी से एक प्रक्रिया से गुजरी है जिसका चरम परिणाम धूमिल की कविता के रूप में सामने आता है। डॉ. चन्द्रकान्त बांदिबडेकर भी यह स्वीकारते हैं कि “धूमिल की कविता साठोत्तरी पीढ़ी की अधिकांश युवा कविता के सभी गुण दोषों को तथा शक्ति और सीमा को समझने की एक महत्वपूर्ण कुंजी है।” यह सच है कि धूमिल की कविता में निराला और मुक्तिबोध को संवेदनात्मक व्यापकता और उतनी गहराई नहीं है पर वर्तमान त्रासदी और

चोट को अनुभूमि की आंख से देखने का उनका जो जनवादी नजरिया और ईमानदार नियत है उस पर ऊंगली नहीं उठायी जा सकती। उनका क्रोध किसी अमूर्त व्यवस्था के प्रति न होकर उन "मठों" "और गढ़ी" के प्रति है जिन्हें मुक्तिबोध तोड़ना चाहते थे। डॉ. मंजुल उपाध्याय मुक्तिबोध की तरह धूमिल की कविता पढ़ने पर लगता है कि किसी के भाव जगत में मुक्तिबोध जैसी सघनता नहीं है। धूमिल का मन तह किये हुए अजन्ता है। अतः धूमिल की कविता किसी सूक्ष्म बुद्धि को चुनौती नहीं देती। किसी भी साधारणतः शिक्षित पाठक का मन धूमिल की मोटी-मोटी भाव लहरों को पहचान लेता है, क्योंकि वह उस वास्तविकता से परिचित है, जिन्हें वह जी रहा है।

डॉ. नामवर सिंह ने धूमिल को जहां पहले निराला और मुक्तिबोध की परम्परा का कवि घोषित किया था, वहां बाद में वे धूमिल को राजकमल चौधरी की परम्परा में रचना उचित समझते हैं। इस पर अपनी टिप्पणी करते हुए पद्मधर त्रिपाठी लिखते हैं— "धूमिल के सबसे बड़े पैरोकार डॉ. नामवर सिंह ने, जिन्होंने एक जमाने में उसे निराला और मुक्तिबोध की परम्परा का कवि घोषित किया था, उसके मरते ही राजधानी की एक गोष्ठी में उसे राजकमल चौधरी की परम्परा में बैठा दिया। कहना न होगा कि यह बयान जहां एक बड़ी गलती के बाद दूसरी बड़ी गलती किये जाने का दस्तावेज है, वहीं वह इस बात को साफ करता है कि आज की हिन्दी आलोचना मौकापरस्त और दुलमुल तो हो ही चुकी है, उसकी निगाह और समझ भी निहायत कमजोर और बचकानी है। विचारों में बदलाव नहीं है। लेकिन ऐसी तबदीली जरूर तकलीफदेह है जो अन्तः नसमझी साबित हो।"

धूमिल से पहले लिखी जा रही सामाजिक सरोकारों और चिन्ताओं की कविताओं में हम संवेदना के दो रूप पाते हैं, या तो कवि दलित पीड़ित वर्ग के लिए अश्रु विगलित रहता था या

फिर एक नये सवेरे और लाल सूरज के उगने की उम्मीद में जल्दी से काव्यात्मक तनाव से किनारा कर लेता था। धूमिल के यहां हम पहली बार स्थितियों के वर्णन विस्तार में रचने-बसने, उनकी पेचीदगियों को समझने और इस समय से पैदा हुए तनाव को देर तक साधने का कौशल देखते हैं। डॉ. विजय कुमार का कहना है कि धूमिल का "डॉक्यूमेंटेशन" दिनोदिन अधिक सूक्ष्म, जटिल और बेमालूम होते हुए शोषण के विभिन्न रूपों, मुद्राओं और पतों की कलई खोलता है। वास्तव में जो कविता अन्यायी सत्ता के संत्रास और पूंजीवादी व्यवस्था की जकड़ से मुक्त करने के लिए संकल्पित होती है, वह अपने लिए प्रायः तीन मार्ग चुनते हैं पहला शोषण की शिकार जिन्दगी की दुरव्यवस्था का चित्र, दूसरा शोषण के धूर्त तरीकों का भण्डाफोड़ और तीसरा एक बेहतर भविष्य के सपने का अंकन। साठोत्तरी कविता के अधिकांश कवियों ने जहां शासकों या उनके समर्थक वर्गों या समुदायों के काले कारनामों को उजागर करना मात्र काव्य कर्म का प्रमुख हिस्सा बना दिया था, वहां धूमिल साठोत्तरी कवियों में पहले ऐसे कवि हैं जिन्होंने तीनों मार्गों पर चलने का पहली बार साहस जुटाया। फिर भी धूमिल की कविता की हमारे समय में एक ने धूमिल की कविता पर प्रहार किया है और कई बार केवल उनके सीमित महत्व को स्वीकार किया है। डॉ. चन्द्रकान्त बांदिबडेकर जहां धूमिल को नकारों का कवि कहते हुए यह लिखते हैं कि "सम्पूर्ण अस्वीकार का भाव उन्हें निष्क्रियता की ओर ले जाता है।" वहां वामपंथी आलोचक डॉ. नन्दकिशोर नवल समग्रता में धूमिल की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं, कि राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ को उसकी वह विचारधारा नहीं थी कि तमाम चीजों को ठीक-ठाक समझ पाते और सामाजिक परिवर्तन में एक कवि की हैसियत से अपनी भूमिका तय करते।

वास्तव में धूमिल की कविता पर अरोपण प्रतिष्ठापन अधिक हुआ है। गवई अनुभव और

किसानी संस्कार के इस कवि ने मार्क्सवादी चिन्तन तथा साम्यवादी सिद्धान्तों का अध्ययन तो किया था पर उसे तारतम्यों में कविता का विषय नहीं बनाया। धूमिल ने जिस रूप में स्थिति को देखा और समझा उसे अपनी कविता का विषय बना दिया। जिन्दगी की किताब से मापने की कोशिश कभी नहीं की। पूंजीपति वर्ग के प्रति जहां धूमिल का आक्रोश स्पष्ट है वहां कवि ने अपने वर्ग अर्थात् मध्यवर्ग के साथ भी किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया। जिन आलोचकों को धूमिल से यह शिकायत है कि वह सामाजिक परिवर्तन में कवि की हैसियत से अपनी भूमिका तय नहीं कर पाते, उनको धूमिल को "वापसी" तथा "लोहसाय" शीर्षक कविताओं के बीच में से गुजरना होगा।

कवि की तमाम कविताओं के बीच में से गुजरकर साठोत्तरी कवियों के सन्दर्भ में उनकी यदि पहचान करें तो ज्ञान होगा कि धूमिल राजकमल चौधरी की तरह बौखलाकर अघोरियों की संगत में नहीं बैठ जाते। उन्हें हर वक्त ख्याल रहता है कि पेशेवर हाथां और फटे हुए जूतों के बीच कहीं न कहीं एक अदद आदमी है, जिस पर टांके पड़ते हैं और जो जूतों से झोंकती हुई अंगुली की चोट छाती पर हथौड़े की तरह सहता है। इसके साथ कवि को बराबर यह भी ख्याल रहता है कि जिंदा रहने के पीछे अगर सही तर्क नहीं है तो रामनामी बेचकर यह रडियो की दलाली करके रोजी कमाने में कोई फर्क नहीं है। दरअसल यही वह नुक्ता है जो धूमिल को उनके अन्य समकालीन कवियों से अलग कर उनकी कविता को ऐ प्रासंगिक सार्थकता से जोड़ता है। जगदीश नारायण श्रीवास्तव इसी को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "यह सही तर्क दूधनाथ में नहीं है, श्रीराम में नहीं है, यहां तक कि राजकमल चौधरी और कमलेश में भी नहीं है, क्योंकि ये कवि जिन्दगी को किताब से नापते हैं", आजादी को आक्रमण की तरह झेलने वाली जनता के एकसासों से नहीं। इन कवियों ने भी

वही किया जो पूर्ववर्ती नये कवियों ने, "सबसे पहले उन्होंने एक भाषा तैयार की जो तुम्हें न्यायालय से लेकर नींद से पहले की प्रार्थना तक गलत रास्तों पर डालती थी। धूमिल इससे टूटकर स्थितियों को अतिक्रान्त कर जाने की पेशकश करते हैं। यह ज्यादा कलात्मक गहराइयों में न जाकर जन संबोधन की भूमिका में उतरते हैं।"

संदर्भ

- श्रयी: पक 1974, डॉ. जगदीश गुप्त, "त्रयी एक नई शुरुआत" पृ. 11-12
- हिन्दी कविता: तीन दशक, डॉ. रामदरश मिश्र, पृ. 205
- नयी कविता: सीमाएं और संभावनाएं-गिरिजा कुमार माथुर पृ. 142
- संसद से सड़क तक, धूमिल पृ. 8
- सारिका, 1 जून, 1980, पृ. 64
- कविता की तलाश, डॉ. चन्द्रकान्त बांदिबडेकर, पृ. 128
- समकालीन कविता और धूमिल, डॉ. मंजुल उपाध्याय पृ. 110
- प्रतीक, मार्च 1975, पृ. 3
- साठोत्तरी हिन्दी कविता:परिवर्तित दिशाएं, डॉ. विजय कुमार, पृ. 231
- कविता की तलाश, डॉ. चन्द्रकान्त बांदिबडेकर, पृ. 59
- कविता की मुक्ति, डॉ. नन्दकिशोर नवल, पृ. 144
- समकालीन कविता पर एक बहस, डॉ. जगदीश नारायण श्रीवास्तव, पृ. 139

Copyright © 2017, Dr. R.P.Verma. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.